धन-धरती

विपिन बिहारी

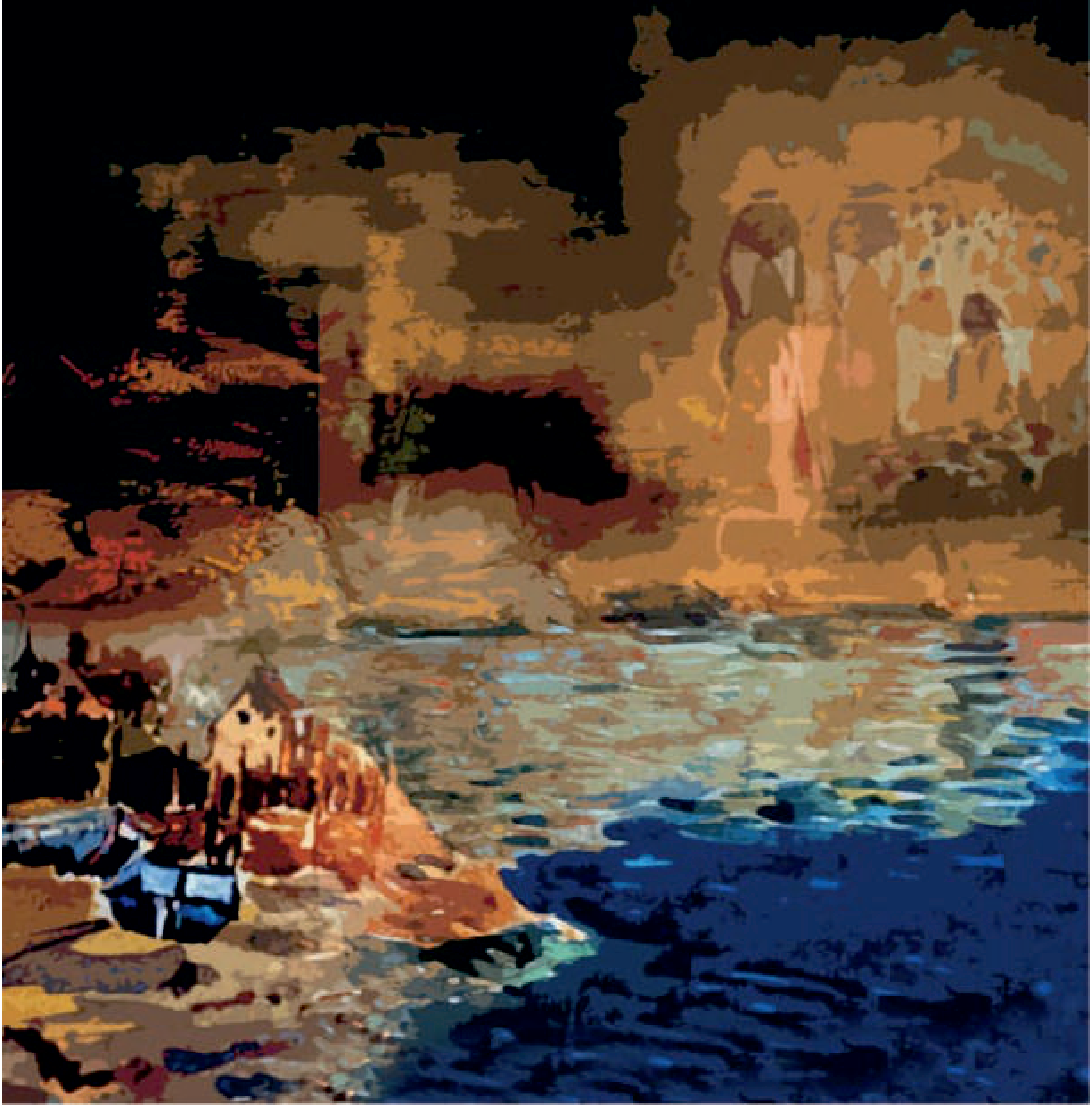

धन-धरती

विपिन बिहारी

दुसाध प्रकाशन
लखनऊ-226022

प्रथम संस्करण : मार्च, 2012

ISBN : 978-81-87618-35-5

प्रकाशक : **दुसाध प्रकाशन**
डाइवर्सिटी हाउस, वार्ड-शंकरपुरवा
आदिल नगर, कल्याणपुर, लखनऊ-226022
E-mail : hl.dusadh@gmail.com
मो. : 9335946426, 9313186503

प्रशासनिक कार्यालय
एफ-196, आया नगर एक्स, फेज-6, नई दिल्ली-110047,
मो. : 9313186503

© **लेखक**

मूल्य : 175 रुपये

रचना : **धन-धरती**
लेखक : विपिन बिहारी
आवरण : शशिकान्त
शब्दांकन : कम्प्यूटेक सिस्टम, शाहदरा, दिल्ली-32
मुद्रक : क्विक ऑफसेट, दिल्ली-94

समर्पित

डाइवर्सिटी आंदोलन से जुड़े साथियों को

भूमिका

आसान नहीं हैं कामयाबी की राहें

डॉ. अम्बेडकर को निश्चित रूप से श्रेय जाता है कि उन्होंने आत्मविस्मृति-ग्रस्त दलित समुदाय को न केवल जाग्रत किया बल्कि एकजुट होकर अपने अधिकारों को हासिल करने के लिये संघर्ष करना भी सिखाया। दलितों में उन्होंने जो चेतना जगाई उसी का परिणाम है कि आज भारतीय समाज की मुख्यधारा में उन्हें उपयुक्त स्थान मिलने लगा है। इतना ही नहीं साहित्य रचना के क्षेत्र में सदियों से चले आ रहे सवर्णो के वर्चस्व को भी उन्होंने एक जबरदस्त चुनौती दी है और यह साबित कर दिखाया है कि वे इस क्षेत्र में भी उनसे पीछे नहीं हैं बल्कि यह कहना अधिक युक्त युक्त होगा कि उन्होंने आत्मकथा लेखन में तो प्रतिष्ठित सवर्ण लेखकों को काफी पीछे छोड़ दिया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि पिछले कुछ दशकों में दलित लेखकों की जो आत्मकथायें आई हें। उनसे दलित लेखन की एक खास पहचान बनी हे। इनमें उजागर तथ्यों ने पाठकों के सामने एक ऐसी तस्वीर रखी है जिसे वे देखकर भी अनदेखा करते आये थे।

आत्मकथा लेखन में बुलन्दियां छू लेने के बाद आजकल दलित लेखकों ने साहित्य की दूसरी विधाओं में भी पहल करनी शुरू कर दी है। आत्मकथा तो लेखक एक बार ही लिख सकता है इसलिए दलित लेखन में अब उसका युग बीत रहा है और कहानी व उपन्यासों में वे अने अनुभव संसार को व्यक्त करने में लगे हैं। उन्होंने तभी उनके पूर्वजों ने जो कुछ भोगा था उसे आत्मकथायें सामने ला चुकी हैं लेकिन अब वे और उनकी सन्तानें किन विसंगत सामाजिक स्थितियों से गुजर रही हैं उन अनुभवों को रूपाकार देने में आजकल दलित लेखक व्यस्त हैं। निश्चय ही पहले से हालात बदले हैं। शिक्षा तक दलितों की पहुंच सुगम हुई है जिससे उन्हें शासन प्रशासन और जनसेवा के क्षेत्रों में अपनी किस्मत आजमाने

के अवसर मिलने लगे हैं। लेकिन अफसोस है पद और पैसा पा लेने के बावजूद उनके प्रति सवर्णों की भेदभावपरक मानसिकता बहुत नहीं बदली है। यह सच है कि किसी भी तरह की सत्ता के अंग बने दलितों को लोग सलाम करते हैं। अपने काम निकालने के लिए उनकी खुशामद भी करते हैं लेकिन यह भी सच है कि मन से वे उन्हें सम्मान नहीं देते, उन्हें दलित ही समझते हैं। इस तरह की सवर्णों की दुमुंही मनोवृत्ति और दैनन्दिन जीवन में सामने आ रही विसंगतियों को प्रकाश में लाना आज के दलित लेखन का प्रमुख ध्येय बन गया है।

विपिन बिहारी सालों से इस तरह की दुष्प्रवृत्तियों को अपने लेखन में रेखांकित करने में लगे हैं। अब तक वे इस विषय को लेकर काफी कुछ लिख चुके हैं। लेकिन दुख है उन्हें वह सम्मान नहीं मिल सका है जिसके वे हकदार हैं। मुझे लगता है कि उनका दिल्ली या अपने राज्य की राजधानी से दूर रहना, दलित लेखकों की खेमोबजी से स्वयं को अलग रखना और किसी नामीग्रामी आलोचक को अपना गॉड फादर न बनाना भी वे कारण हैं जो उन्हें विशिष्ट बनने से वंचित रख रहे हैं। लेकिन लेखन उनके लिये यश या अर्थ का साधन नहीं है। वह तो उनके लिये एक मिशन है जिसे पूरा करने वे पूरी निष्ठा के साथ लगे हैं।

बहरहाल उनका ''धन धरती'' उपन्यास मेरे सामने है। इसमें ऐसे अद्भुत नायक की सृष्टि की गई है जो पढ़ लिखकर समाज में कुछ बनना चाहता है। लेकिन उसकी राह में पग पग पर कांटे बिछाये जाते हैं। पहले स्कूल में लेने से आनाकानी की जाती है फिर उसे सवर्णों लड़कों से अलग बैठाया जाता है। स्कूल के कुएं से पानी नहीं पीने दिया जाता। मौका मिलते ही सवर्ण लड़के उसे पीट डालते हैं और समय समय पर उसका अपमान करना उनके लिये एक मनोरंजक खेल बन जाता है। इतना ही नहीं उसके चोटी तिलकधारी मास्टर जी भी उससे नफरत करते हैं। उसे स्कूल से भगाना चाहते हैं। उसकी बात-बेबात पर इतनी पिटाई करते हैं कि वह लहूलुहान हो जाता है। इन सारी विपरीत परिस्थितियों के बावजूद वह हिम्मत नहीं हाराता। अपने लक्ष्य को पाने के लिये वह सब कुछ सहन करता जाता है। आखिर पढ़ाई खत्म होती है और उसे उसके गांव के पास ही एक स्कूल में नौकरी मिल जाती है। यहां तक का घटनाक्रम लगभग वैसा ही है जैसा दलित आत्मकथाओं में प्रायः देखने को मिलता हे। लेकिन इसका महत्त्व उनसे इसलिये बढ़ जाता है क्योंकि नायक पढ़ लिखकर और नौकरी पाकर ही संतुष्ट नहीं हो जाता। वह उन आत्मकथाओं के नायकों से इसलिये भिन्न व विशिष्ट है क्योंकि उसने अपने अध्ययन काल में जो यातनायें सही हैं, जिस

तरह की जिल्लत का वह शिकार होता रहा है वह भरसक प्रयत्न करता है कि उसके गांव की नई पीढ़ी भयावह स्थितियों से न गुजरे।

दलित लेखकों व इस समुदाय के उन लोगों में जो आरक्षण या अपनी योग्यता की बदौलत उच्च पदों पर पहुंच गये हैं या सत्ता में भागीदार बन गये हैं, प्रायः यह देखा जाता है कि वे अपने लोगों के लिये उतना कुछ नहीं करते जितने की उनसे अपेक्षा की जाती है। इतना ही नहीं वे सवर्णों की तरह सोच व जीवन शैली अपनाने में भी पीछे नहीं रहते। इनमें कुछ अपवाद हो सकते हैं लेकिन बहुसंख्यक ऐसे ही लोग हैं, पर नायक ऐसा बनने से इन्कार कर देता है। वह अपने जातिय भाईयों के साथ रहकर उनके दुख सुख में भागीदार बनता है और उन्हें जलालत की जिन्दगी से निजात दिलाने की कोशिश में लगा रहता है।

टीका गुरू यद्यपि हैं तो मामूली से अध्यापक ही पर उनके हौंसले अपने लोगों के लिये वह सब कर देने के हैं जो वे अपने जीवन को खतरे में डालकर भी कर सकते हैं। किसी दलित बच्चे को पढ़ने में उन जैसी मुसीबतों का सामना न करना पड़े इसके लिये वे स्कूल या समाज से लड़ने की बजाय अधिकाधिक दलित बच्चों को पढ़ने के लिये प्रेरित करते हैं ताकि उनकी संख्या इतनी हो जाय कि वे सवर्ण बच्चों का मुकाबला कर सकें। अपने अध्यापकों को भी उनके साथ उचित व्यवहार करने के लिये विवश कर सकें। शिक्षित होने के लिये संगठित होना जरूरी है। संगठन ही वह ताकत है जिससे दमन का विरोध हो सकता है और प्रतिपक्षियों को अपना व्यवहार सही करने के लिय विवश किया जा सकता है।

अन्य गांवों की तरह इस गांव में भी दलित उन लोगों के अत्याचार के शिकार होते रहते हैं जिनके पास पैसा है, ताकत है, शासन प्रशासन तक पहुंच है और जातीय श्रेष्ठता का दंभ है। इसके प्रतिरोध के लिये भी वे दलितों को आपसी झगड़े खत्म करके एक हो जाने के लिये प्रेरित करते हैं। सच है कि उनके इन प्रयासों को आसानी से सफलता नहीं मिलती लेकिन वे विचलित नहीं होते। बार-बार कोशिश करते हैं तब कहीं उन्हें अपने मकसद में कामयाबी मिलती है इसके लिये उन्हें कीमत भी भारी चुकानी पड़ती है। कभी पिटते-पिटते बचते हैं तो कभी किसी और साजिश के शिकार होते हैं। पर वे अपनी जिद नहीं छोड़ते। कहते हैं जिद से ही दुनिया बदलती है। टीका गुरू अपने समुदाय की मानसिकता को बदलने में जो थोड़ी कामयाबी हासिल करते हैं वह इस जिद का ही परिणाम होती है।

दलित समुदाय आज भी पिछड़े वर्ग के लोगों तक से पिछड़ा है। इसका कारण गरीबी और बेरोजगारी तो है ही उनकी शिक्षा के प्रति अरुचि भी है। जो दलित अब कुछ जाग्रत हुए हैं और शिक्षा के महत्व को समझने लगे हैं उनमें यह महत्वाकांक्षा पनपने लगी है कि उनके बच्चे भी पढ़ लिखकर कुछ बन जायें ताकि उन्हें वे अपमान, अत्याचार न भुगतने पड़ें जिनसे उनके बुजुर्ग गुजर चुके हैं। लेकिन इस चाह के रास्ते में आज भी बड़ी बाधायें है। वे स्कूलों, कॉलजों में तो भेदभाव के शिकार होते ही हैं आईआईटी और आईआईएम जैसे उच्च प्रोफेशनल प्रशिक्षण संस्थानों में भी इस तरह की मुसीबतों से मुक्त नहीं हो पाते। यही कारण है कि समय-समय पर इनमें पढ़ने वाले दलित छात्रों की आत्महत्याओं के समाचार सुनाई देते रहते हैं। विपिन बिहारी इन सारे जीवन यथार्थों से भलीभांति परिचित हैं। इसलिये वे अपने इस उपन्यास में दलितों को उन रणनीतियों से अवगत करवाते हैं जिनसे वे मुसीबतों से पार पा सकते हैं।

उनके नायक का चिरित्र निश्चित रूप से एक उदाहरणीय चरित्र है। लेकिन उसमें कहीं अमिमानवीयता आरोपित नहीं हुई है। वह बिल्कुल सीधा सादा जीवन जीते हैं। औरों के लिये जीने मरने को तैयार देखकर अक्सर उनकी पत्नी से झड़प होती रहती है फिर भी उनके पति-पत्नी के रिश्तों में कभी कोई दरार दिखाई नहीं देती। निश्चित रूप से समाज में उन जैसे लोग बहुत कम होते हैं। लेकिन होते जरूर हैं। उन्हीं की छोटी छोटी कारगुजारियों से समाज की जड़ता टुट रही है। लोग समझ रहे हैं कि उन्हें इज्जत, आत्मनिर्भरता और बराबरी की जगह पाने के लिये स्वयं को ही समर्थ बनाना होगा। सरकारी योजनायें, कानूनी कार्रवाइयां उनकी मदद तो कर सकती हैं, सबल नहीं बना सकती।

बहरहाल विपिन बिहारी का यह उपन्यास एक अन्य कारण से हिन्दी दलित साहित्य में मील का पत्थर बनेगा। मैंने इस पुस्तक की भूमिका में शुरू में ही लिखा है कि आज साहित्य रचना के क्षेत्र में सदियों से चले आ रहे सवर्णों के वर्चस्व को उन्होंने (दलित साहित्यकारों) एक जबरदस्त चुनौती दी है और यह साबित कर दिखाया है कि वे इस क्षेत्र में उनसे पीछे नहीं हैं। विशेषकर आत्मकथा लेखन में तो प्रतिष्ठित सवर्ण लेखकों तक को पीछे छोड़ दिया है। किन्तु तमाम उपलब्धियों के बावजूद दलित साहित्यकारों की आर्थिक पहलू के प्रति उदासीनता चिन्ता का विषय रही है। गैर-दलित ही नहीं खुद कई दलित चिंतक भी आर्थिक पहलू की उपेक्षा के लिए दलित साहित्यकारों की आलोचना करते रहे हैं। कहा जा सकता है आर्थिक मुद्दों की अनदेखी ही दलित साहित्य का अन्यतम दुर्बल पक्ष रहा है।

दलित साहित्य मुख्यतः वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मणवाद के विरोध पर केन्द्रित रहा है। किन्तु वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मणवाद के आर्थिक पक्ष पर उतनी रोशनी नहीं डाली गई जितनी की दलित समाज को जरूरत थी। दलितों की आर्थिक मुक्ति का प्रश्न महज नौकरियों में आरक्षण तक रहा। जबकि डॉ. आंबेडकर ने 1942 में अंग्रेजों के समक्ष गोपनीय ज्ञापन सौंपकर पीडब्लयूडी के ठेकों तक में आरक्षण अर्थात प्रतिनिधित्व की मांग उठाई थी। इस बात को ध्यान रखकर स्वतंत्र भारत के दलित साहित्यकारों को चाहिए था कि वे नौकरियों के अतिरिक्त अर्थोपार्जन के अन्य क्षेत्रों में भी दलित समाज की हिस्सेदारी की मांग उठाते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उधर जिस आरक्षण के सहारे कुछ दलित राष्ट्र की मुख्यधारा से जुड़ते जा रहे थे उस पर 1991 में गृहित भूमंडलीकरण की अर्थनीति से संकट मड़राने लगा।

भूमंडलीकृत अर्थनीति के परिणामों ने साबित दिया कि इसका मुख्य लाभार्थी वह विशेषाधिकार युक्त सुविधासंपन्न तबका होगा जिसका वर्ण-व्यवस्था के अर्थशास्त्र के कारण अर्थोपार्जन के अधिकांश स्रोतों पर भरपूर कब्जा है। इन्हीं बदली हुई परिस्थितियों में दलित अधिकारों की चिन्ता करने और पाने के लिए संघर्ष करने वाले कुछ दलित चिन्तकों को समझ में आया कि सिर्फ सरकारी नौकरियों के सहारे दलितों का वजूद नहीं बचाया जा सकता। इसके लिए उन्हें अन्यान्य आर्थिक गतिविधियों में भी हिस्सेदारी दिलानी होगी। इस जरूरत को ध्यान में रखकर पहले चन्द्रभान प्रसाद और उनके बाद एच.एल. दुसाध ने अमेरिका के डाइवर्सिटी सिद्धान्त से प्रेरणा लेकर दलितों के लिए सरकारी और निजी क्षेत्र की नौकरियों के साथ सप्लाई, डीलरशिप, ठेकों, फिल्म-टीवी इत्यादि ने भागीदारी की मांग उठाना शुरू किया। उनके प्रयास से उत्तर प्रदेश में जहां सभी प्रकार के सरकारी ठेकों में दलितों का भागदारी मिल गई है, वहीं केन्द्र सरकार ने भी हाल ही में उनके लिए सरकारी खरीद में 4 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा की है।

बहरहाल डाइवर्सिटी के विचार को फैलाने के लिए बहुजन डाइवर्सिटी मिशन के अध्यक्ष एच.एल. दुसाध एक कस्बे में जाते हैं। उनके विचार से एक गांव के दलित युवकों में हर क्षेत्र में भागीदारी की चाह पैदा होती है और वे सामंतों से संघर्ष कर किस तरह भागीदारी हासिल करते हैं यही इस उपन्यास का विशेष आकर्षण है। एक तरह से इस कारण डाइवर्सिटी केंद्रित यह उपन्यास दलित साहित्य में नया आयाम जोड़ देता है।

मैं आश्वस्त हूं कि इस उपन्यास का हिन्दी पाठक स्वागत करेंगे। क्योंकि इसकी थीम समाज को तोड़ने नहीं अधिक सुगठित और सशक्त बनाने की है। बहुजन डाइवर्सिटी मिशन के उत्साही संयोजक एच.एल. दुसाध द्वारा इसे प्रकाशित करने का जो संकल्प लिया गया है उसकी भी प्रशंसा की जानी चाहिये। आशा करता हूं कि विपिन बिहारी इसी तरह लिखते रहेंगे और 'मिशन' उन जैसे लेखकों के लिखे को लोगों के सामने लाता रहेगा।

–सुरेश पंडित

लेखक एवं समाजकर्मी

1

दिन बहुरने लगे थे। आसमान निख़रने लगा था। सूरज की रोशनी लम्बवत् रूप से बस्ती के भूगोल पर झरने लगी थी। झोंपड़ियाँ रोशनी से जगमगाने लगी थीं। ऐसा भी लगने लगा था जैसे आज का विहान नायाब ही नहीं पहला भी है उनके लिए, जिन्होंने सूरज की रोशनी को भी महसूस करने में दिक्कतों का सामना किया था। लेकिन आज .....

मूर्च्छा-सी छाई रहती थी बस्ती पर अनंत गहराइयां लिए हुए। हर तरफ भूख का क्रंदन था। भूख मिटाने की मारामारी और एक पागलपन था। कोई निश्चित रोजी-रोज़गार न होने की वजह से कुछ भी कर गुज . रने की नृशंसा थी। गली-कूचे सनातनी गंदगी से बजबजाते रहते थे। बदबुएं नथुने से गुजरकर फेफड़े को टूक-टूक कर देने में सक्षम होती थीं। दिमागी हालत ऐसी होती थी कि वे सकारात्मक सोच में विफल हो जाते थे।

सुअरों की घों-घों की भयानक आवाज़ें गूंजती रहती थीं। चील-कौवे भी अपना डेरा जमाने में नहीं चूकते थे जैसे मरघट पर कोई लाश लावारिश हालत में पड़ी होती है और एक जश्न जैसा ही लगता था उनके बीच। सांझ का घुंधलापन जैसे ही आंगन और चौराहों के आर-पार पसरता कुछ घरों से दारूबाजों की 'रे...बे... और औरतों के साथ झोंटा-झोंटव्वल शुरू या फिर औरतों में उलाहने भरी गालियाँ कान फोड़ने लगती थीं। सारा कुछ आदिम जैसा ही लगता था। सभ्यता नाम की कोई चीज़ नहीं दिखती थी। सब पशुवत।

लेकिन अब ऐसा कुछ नहीं लगता था। सभ्यता जैसे बस्ती के प्रांगण में संकीर्णता के साथ फैलने-पसरने लगी थी। नालियाँ बजबजाती हुई नहीं लगती थीं। बरसात के दिनों में गली-कूचे कीचड़ों से लबलबाए रहते थे। अब वहां खड़ंजे लग गए थे। नालियां पक्की कर दी गई थीं। इक्का-दुक्का जे.आर.वाई. के तहत

पक्के घर भी बन गए और ये उम्मीद हो चली थी कि आनेवाले दिनों में बाकी लोगों को भी पक्के घर नसीब हो जाएंगे। इसके लिए बस्ती के लोग जे.आर. वाई के कर्ता-धर्ता मुखिया-सरपंच के गोड़-हाथ पूजने में कोताही नहीं बरत रहे थे, जैसे वे सीख गए थे, किससे किस तरह से फायदे लिए जा सकते हैं।

इसी बस्ती में एक-घर ऐसा भी था जो टीका गुरुजी का था, अलग-थलग दिखता था। ऐसा नहीं कि उन्होंने झोंपड़ों के बीच आलीशान कुछ कर दिया था। दूर से देखने में लगता था, बस्ती के भीतर वे अलग हैं। वैसे टीका गुरुजी बस्ती से अलग कभी नहीं दिखे। उन बदबु से जिनसे मानसिक हालत भी खराब हो जाती थी, कभी दूर भागने की कोशिश नहीं की और एक योगी की तरह अपनी मानसिकता को बचाए रखा था। वे इतना जरूर कहते थे, ''जहाँ रहते हो, वहाँ साफ़-सफ़ाई पर भी ध्यान दिया करो। खाना-हगना ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। हम कल इतिहास हो सकते हैं। हमारे बाद भी पीढ़ियाँ आएंगी। जीवन की बागडोर उनके हाथों में होगी। तो ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता कि नई पीढ़ी को बागडोर सौंपते वक्त कुछ नया दें कि वे हीन भावना से ग्रसित होने की बजाय गर्व महसूसें। गंदगी में ही जीते रहे हैं हम लोग लेकिन हम अब इतना तो समझ ही सकते हैं कि गंदगी हमारी मानसिकता को ध्वस्त कर देती है। अच्छा हम इसलिए नहीं सोच-समझ सकते हैं क्योंकि गंदगी से भीतर ही भीतर लड़ते रहते हैं। आदत में कम से कम गंदगी शुमार नहीं हो सकती। उसे हम झेलते हैं और इसमें हमारी ढेर सारी ऊर्जा नष्ट हो जाती है, जिसे हम आगे सोचने के लिए खर्च कर सकते हैं, वह गंदगियों में खर्च हो जाती है। तो भाई, थोड़ी सी मिहनत करें। थोड़ा ध्यान दें तो हम इससे निजात पा सकते हैं। इसलिए मैं कह रहा हूं कि हमें कोई रास्ता दिखलाने नहीं आएगा। सरकारी महकमा सुविधा देने के नाम पर कुछ लुटा जाएगा और अपनी जिम्मेवारी उसी को समझ लेगा। बाकी हमें ही करना है।''

उनकी बातों का असर बस्तीवालों पर कितनी गहराई से होता, ये समझना मुश्किल था। लेकिन किसी ने उनकी बातों के विरुद्ध किन्तु-परन्तु नहीं किया था। हालांकि उनकी पीठ पीछे इतना जरूर उच्चारते, ''गुरुजी, पिंगल पाद रहे हैं।'' टीका गुरुजी समझते थे कि बस्तीवालों को समझाना मामूली बात नहीं है। वे उनको दोष नहीं देते थे.... ''इनका क्या दोष, जिस तरह से जी रहे हैं, उसी तरह से कर रहे हैं। अंधकार में रहने वाला व्यक्ति अंधकार का ही आदी हो जाता है। प्रकाश से आँखें चुंधियाने लगती हैं। उन्हें प्रकाश में ले जाना होगा,

उसका महत्व समझाना होगा। ये काम मुश्किल है जरूर, लेकिन ऐसा नहीं कि उन्हें प्रकाश में ले जाना संभव ही नहीं है। बादल छंटेंगे जरूर। लेकिन अनवरत प्रयास की जरूरत है। एक दिन वे खुद सोचेंगे कि उन्हें क्या करना चाहिए।'' टीका गुरुजी उन्हें प्रेरित करने के नाम पर अपने घर के आगे की नाली स्वयं साफ़ करते थे .... देखादेखी भी तो करें। लेकिन वे इतने मूढ़ कि उनकी हंसी ही उड़ाते....''अरे देखो न, गुरुजी नाली उराढ़ रहे हैं, सनक गया है मस्टरवा।''

''तब कौन आएगा बस्ती की नालियाँ उराढ़ने? दूसरों घरों की गंदगी दूर करेंगे, लेकिन अपने घर की नहीं।'' टीका गुरुजी भड़क उठते थे। उनके भड़कने पर तमाशबीन दूर छिटक पड़ते थे।

टीका गुरुजी के कई प्रयासों के बाद नालियाँ साफ़ होने लगी थीं। सुअर हर बार नालियों को हींड़ देते थे, जिसकी वजह से साफ़-सफ़ाई पर असर पड़ता था।

'सुअर पालना फायदेमंद है बशर्ते उसे कायदे से पाला-पोसा जाए। जहां-तहां पड़े होते हैं, जिससे घिन् होती है। उन्हें एक जगह इकट्ठा कर रखा जाए। सुअर पालन को व्यापार बनाया जा सकता है। मार्केट में इसकी माँग है और हमारे लिए एक आर्थिक स्रोत भी हो सकता है और रोज़गार का साधन भी। सुअर के मांस बड़े-बड़े खाते-पचाते हैं। लेकिन इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।''

टीका गुरुजी कैसे हो गए गुरुजी? यह एक प्रश्न हो सकता था। उनके समय की भयावहता का अनुमान सहज लगाया जा सकता था। ऊँची शिक्षा प्राप्त नहीं थे, सिर्फ हाई स्कूल पास और मिल गई मास्टरी प्राइमरी स्कूल की। उस समय कैसे दाखिल हुए होंगे स्कूल में, यह एक चिंतनीय विषय हो सकता था। डग-डग पर छुआ-छूत। सवर्णों का अत्याचार और शूद्रों को प्रतिबंधित करने के लिए तरह-तरह की दरिंदगी। टीका गुरुजी के जेहन में अब भी दृश्य छपे पड़े थे जो उनके साथ प्रत्यक्ष गुजरा था। वे उन्हें पोंछना चाहते थे, लेकिन स्मृतियाँ थीं कि पत्थर की लकीर साबित हुई थीं। बचपन की स्मृतियों को आज भी वे अक्षरशः बयान कर सकते थे। अपने साथी गुरुओं के समक्ष जिनमें सवर्ण भी थे और पिछड़े भी, दलित सिर्फ वे ही थे, उनकी जबान चलती रहती थी। और अपनी स्मृतियों को टुकड़ों में उन्हें सुनाते रहते थे। जब वे पहली बार स्कूल गए थे, साथ में उनके पिता सनिचर भी थे। स्कूल प्रांगण में जैसे ही वे पहुंचे, एक शोर उठा, कई लड़के चिल्ला उठे थे एक साथ उन्हें देखकर.... ''देखिए गुरुजी, एक शूद्र घुसा आ रहा है स्कूल में। शूद्र का नाम सुनते ही स्कूल के सारे लड़के

अपना बस्ता छोड़कर दरवाज़े पर आ गए जैसे कोई हादसा हो गया था। रामनाथ मिश्रा उस समय मास्टर थे। उन्हें उत्सुकता हुई.... कौन शूद्र उनके स्कूल में घुसा आ रहा है? लड़कों के पीछे वे भी खड़ा होकर सनिचर और टीका को देखने लगे थे।

''किसलिए आया है?'' रामनाथ मिश्रा जैसे चीख पड़े थे सनिचर पर जैसे सनिचर और टीका ने बहुत बड़ी गलती कर दी थी। टीका सहम पड़े थे।

''बेटे का नाम लिखवाना है।'' सनिचर मरियल और ठिसुआई आवाज़ में बोले थे। उनके पांव कांपते हुए लगे थे,'' बड़ा जिद्द कर रहा है कि पढ़वे करेगा। बस्ती में स्कूल है तो सोचा... चला आया।''

''का रे, पढ़वे करेगा?'' रामनाथ मिश्रा ने लहकती आँखों से देखा था टीका को।

''हाँ, काहे नहीं पढ़ेगा, आया है यहाँ किसलिए?'' टीका के बजाय सनिचर ने जवाब दिया था। रामनाथ मिश्रा टीका को भगा नहीं पाए थे और उनका दाखिला ले लिया था। सनिचर लौट गए थे। टीका स्कूल में ही रह गए थे।

''गुरुजी, कहाँ बैठेगा इ टिकवा, हम सब नहीं बैठने देंगे साथ में। हम इससे छुआ जाएंगे, घर जाके नहाना पड़ेगा। बिना नहाए माय घर चढ़े न देगी। गुरुजी, इ तो पढ़ेगा नहीं, लेकिन सबको भरनठ कर देगा।'' कई लड़कों की आवाज़ एक साथ गूँजी थी।

टीका खड़े थे जैसे रामनाथ मिश्रा ने सबक न याद किए जाने के दंड में उन्हें खड़ा होने का हुक्म दिया था। उनकी गर्दन इस तरह झुकी हुई थी जैसे वे किसी कसाई के हाथ से हलाल होने वाले थे। अपने पैरों की अंगुलियों से ज़मीन कुरदने का कुप्रयास कर रहे थे। आँखें होते हुए भी वे किसी को नहीं देख पा रहे थे जैसे कोई भयानक दृश्य उनकी आँखों में समाया हुआ था। सारे लड़कों की निगाहें उन्हें छलनी कर देंगी ऐसा महसूस रहे थे वे। रामनाथ मिश्रा भी उन्हें एकटक ताक रहे थे।

अब तक टीका भागे नहीं। एक तरह से उनका अपमान किया जा रहा था और उसे झेलने का सहज सूत्र, आँखें बंद कर ली जाएं। रामनाथ मिश्रा को लग रहा था, उन्होंने ये सूत्र कहाँ से सीखा।

टीका का अपमान हो रहा था। लेकिन वे भागे नहीं थे। उनमें एक दृढ़ता थी जो उन्हें खड़ा रहने में मदद कर रही थी। रामनाथ मिश्रा इस बात को लेकर कुछ-कुछ अचम्भित भी थे। वे बोले नहीं, न ही उन्हें किसी कोने में बैठ जाने

की निर्देश दिया था। टीका अब भी खड़े थे..... बैठ जाने को कहेंगे।

रामनाथ मिश्रा कुर्सी पर विराजे थे।

"गुरुजी, इसे कहाँ बैठाइएगा?" कई लड़कों ने एक साथ अलापा था। "यही तो सोच रहा हूँ।" रामनाथ मिश्रा के सामने टीका को लेकर एक समस्या खड़ी हो गई थी। वे समझ नहीं पा रहे थे कि क्या करें क्योंकि स्कूल का माहौल बिगड़ने की प्रबल संभावना थी, उनकी समझ से इसका कारण टीका ही था। वे ये भी सोच रहे थे कि टीका का दाखिला लेकर उन्होंने कहीं गलती तो नहीं कर दी है। लेकिन दाखिला लेने से मना भी तो नहीं कर सकते थे। पढ़ने का अधिकार सभी को है सवर्ण... पिछड़ा या शूद्र। कहीं बात आगे बढ़ जाए तो कि एक दलित को स्कूल में दाखिला लेने से मना कर दिया है तो उनके लिए झमेला भी खड़ा हो सकता था। स्कूल प्रशासन ने उन पर प्रश्न दाग दिया तो जवाब देते-देते उनका पाद सरक जाएगा।

"तू सब घबराव मत, पढ़ने का शौक इसे चर्राया है, एक-दो दिन में ही बुझा जाएगा और फिर भागेगा तो अपनी झलकी भी नहीं दिखाएगा। पढ़ना-लिखना क्या गुड्डे-गुड़िया का खेल है बाबू... तपस्या है तपस्या। एक सबक करने में पेशाब उतर आएगा।" लेकिन रामनाथ मिश्रा को टीका के बैठने की जगह तय करनी थी तत्काल, सो उन्होंने बरामदे में ही बैठ जाने को कहा था, "तू अभी बाहर ही बैठ, दो-चार दिन स्कूल आ जाएगा तब देखा जाएगा।"

टीका बरामदे में ही पालथी मारकर बैठ गए। उन्होंने कोई विरोध दर्ज नहीं किया कि उन्हें सबसे अलग बरामदे में क्यों बैठाया जा रहा है। शायद इस उम्र में उन्हें विरोध करने का ज्ञान नहीं था या फिर वर्णजनित आत्महीनता भी उनकी हो सकती थी या फिर मास्टर जी सोचा होगा कि टीका में मनोबल की कमी होनी चाहिए।

टीका के बरामदे में निर्विरोध बैठ जाने से रामनाथ मिश्रा प्रसन्न हुए थे। उनके साथ लड़के भी थे, टीका को उनके वर्ण के मुताबिक जगह दी गई है, यही होना भी चाहिए। बिल्कुल अलग-थलग। ऐसी हालत में टीका सिर्फ सुन सकते थे रामनाथ मिश्रा को, श्यामपट पर क्या लिख रहे थे, वे देख नहीं सकते थे। लिखे हुए को देखने के लिए उन्हें शरीर को कमान की तरह कमर को श्याम पटी की ओर झुकाना पड़ जाता था। लेकिन फिर भी वे ऊबे नहीं, थके नहीं जैसे उन्होंने हठकर लिया था, रास्ते में जितनी बाधाएं आएंगी, उन्हें पार करेंगे ही करेंगे, बिल्कुल एक लव्य की तरह।

जब छुट्टी होती, कोठरी में बैठने वाले लड़के बर्रे की तरह पहले भागते थे। टीका को छुट्टी होने का पता उनके भागने से होता था। उनके भागने से वे यकायक हकबका उठते। उन लड़कों के बीच वे भी होना चाहते थे अपना बस्ता समेटने लगते। लेकिन एक ही दफे लड़के भागने के चक्कर में बरामदे में बोझा जाते थे और उन्हें बस्ता समेटते भी नहीं बनता था। सारे लड़के निकल जाते तब सबसे पीछे अपना बस्ता लिए बरामदे से निकलते... निराश-उदास नहीं बल्कि एक हुलस भी देखी जा सकती थी उनके चेहरे पर जैसे उन्होंने कोई बड़ा काम निपटा लिया। वर्णवादियों के विरुद्ध चलना छोटा-मोटा काम नहीं हो सकता था।

टीका उनके किसी भी व्यवहार से खिन्न नहीं हुए। उनका स्कूल जाना बदस्तूर बना रहा था। रामनाथ मिश्रा को बेचैनी होने लगी थी उनके स्कूल में बने रहने से, उनकी जिद से और उन जवाबों से भी जो टीका देते थे रामनाथ मिश्रा के सवालों के। वेद-पुराण पढ़ने-सुनने की मनाही की हुई थी शूद्रों के लिए, नहीं तो पिघला हुआ सीसा उनके कानों में डाल देने का सनातनी प्रावधान था। वे अब वेद पाठ को सुनने से भी मना नहीं कर सकते थे। सिर्फ सुनकर ही टीका पढ़-लिख रहे हैं, जरूर उसकी विलक्षणता है।

रामनाथ मिश्रा छड़ी से टीका को इसलिए नहीं पीटते थे कि उसी छड़ी से दूसरे लड़कों को पीटना पड़ता था। पीटे जानेवाले लड़के को घर में जाने से पहले स्नान करना पड़ जाता था फिर रामनाथ मिश्रा को भी डर सताने लगता था, कहीं वे भी अपवित्र हो न जाएं।

टीका से स्कूल में कोई भी लड़का नहीं बोलता था उनकी आँखों में एक घृणा थरथराती रहती थी।

गर्मी के दिन थे। आधी बेला का स्कूल था। कड़कड़ाती धूप थी। जब लू चलना शुरू होती तब स्कूल में छुट्टी होती थी। देह जल जा रही थी लू की तपिश से। स्कूल से थोड़ा हटकर एक कुआँ था, जिसे स्कूल का कुआँ भी कहा जाता था। टीका को प्यास लगी थी। कुछ देर तक वे प्यास को दबाए हुए रहे थे। मुँह में थूक कम हो गया था, जिसकी वजह से जीभ लटपटा रही थी। वे कुएँ की तरफ जाने लगे थे। रामनाथ मिश्रा ने उन्हें जाते हुए कुएँ की तरफ देखा तो उन्होंने पूछ लिया था, ''कहां जा रहा है रे?''

''पानी पीने।'' टीका सहमे नहीं थे जैसे प्यास की तीक्षणता से उपजी हुई बेचैनी ने उन्हें निडर बना दिया था रामनाथ मिश्रा के गुरुत्व से।

''कहाँ.... और टांठ होकर मत बोल।'' बरामदे में आ गए थे रामनाथ मिश्रा। उनके पीछे तीन लड़के थे।

''कुएँ पर...।'' टीका ने झट जवाब दिया था।

''कुआँ तेरे बाप का नहीं है। तेरे पानी पीने से कुआं अपवित्र हो जाएगा। अरे जाके बाल्टी ले आओ। पानी पीना है तो अपने घर से पीके आव।''

एक लड़का दौड़कर कुएँ से बाल्टी उठा लाया था।

टीका ठिठक गए। जब उनका कोई चारा नहीं चला तब दौड़ पड़े थे अपने घर की तरफ।

रामनाथ मिश्रा हँस रहे थे। लड़के भी उनकी हँसी में अपनी हँसी की छौंक लगा रहे थे।

''उसके पानी पीके आते-आते छुट्टी का समय हो जाएगा।'' एक लड़के ने कहा था।

''मैं भी यही चाहता हूँ।'' रामनाथ मिश्रा बोले थे।

लेकिन टीका स्कूल की तरफ आते हुए दिखे थे। उन्हें देखकर लड़के तो पझाए ही थे, रामनाथ मिश्रा भी पझा गए थे। टीका जब अपनी जगह पर आ बैठे तब सभी उन्हें घूर-घूर कर देख रहे थे, जैसे कोई बहुत बड़ा आश्चर्य हो गया था। टीका जिद्दी ही नहीं निश्चयी भी है। सोच रहे थे रामनाथ मिश्रा। आनेवाले समय में किसी के लिए भी चुनौती बन सकता है। रामनाथ मिश्रा के दिमाग में अक्सर विराजमान रहने लगे थे टीका, जैसे कोई भूत-प्रेत, कोई भटकती हुइ आत्मा। सोते में चिहुंक भी उठते थे। वे हर समय यही सोचते रहते, टीका की उपस्थिति स्कूल से कैसे नदराद की जाए? उसे नदारद करना बहुत जरूरी है, नहीं तो आज ये आया है स्कूल में अपनी दावेदारी जतलाने, कल कोई और भी आ सकता है। दुनिया देखा-देखी करती है। टीका की देखा-देखी उसके जात वाले, बस्ती वाले भी कर सकते हैं। जब उन्हें कोई चारा नहीं चला तब कुछ लंड किस्म के लड़कों को उकसाने लगे थे, ''ऐसा कर कि ये साला भाग जाए ऐसा कि इधर रुख न करे।'' लड़के ऊँची जातवाले थे। उनके बाप भी ऊँचे माने जाते थे। उनके पोर-पोर में टेंढ़पन भरा हुआ था, सो बरामदे में लतिया दिया टीका को। लेकिन टीका सारे अपमान झेलने वाले उन लड़कों का लतियाना नहीं झेल पाए और वे भी भीड़ गए उनसे ये निश्चय करते हुए, जो होगा देखा जाएगा, बर्दाश्त की भी हद होती है। उनकी प्रतिक्रिया देखकर रामनाथ मिश्रा भौचक्क हुए तो हुए ही साथ में लड़के भी भौचक्क थे। लेकिन जिन लड़कों ने उन्हें लतियाने

की कोशिश की थी या लतिया चुके थे, वे कठमूर्ति हो गए थे। अब ये समस्या थी कि टीका को किस नियम के अंतर्गत दंडित किया जाए, मनु विधान के आधार पर या फिर भारतीय दंड संहिता के आधार पर? रामनाथ मिश्रा के सामने एक विकट स्थिति उत्पन्न हो गई थी। टीका के कान काटे जाएं या हाथ और आँखें निकाल ली जाएं या फिर उन्हें स्कूल से ही भगा दिया जाए? वे असमंजस में दिखे थे। जब उनका असमंजस दूर हुआ तो पिल पड़े थे टीका पर, ''तूने क्यों मारा मुनेसर को?''

''इसलिए कि मुनेसर ने मुझे लतिया दिया था।'' टीका निर्भीक होकर बोले। उनकी निर्भीकता हर दिन की घटनाओं से निरंतर बढ़ती ही जा रही थी।

''तुझे लतिया सकता है मुनेसर।''

''काहे लतियाएगा, उसका मैंने क्या बिगाड़ा है? मैं तो सबसे अलग बरामदे में बैठता हूँ। उनके साथ बैठता तो कहा जाता कि मैंने कुछ बदमाशी की है उनके साथ।'' टीका अपनी स्थिति तेज़ आवाज़ में समझा रहे थे।

''थोड़ा लतिया दिया तो तेरी जान नहीं चली गई।'' रामनाथ मिश्रा गलथेथरई पर उतर आए थे।

''मैंने भी मारा तो उसकी जान नहीं चली गई।'' टीका की हाजिर जवाबी में उनकी दृढ़ता देख रहे थे रामनाथ मिश्रा।

''वह तुझसे श्रेष्ठ है।''

''काहे के श्रेष्ठ? उसके नाक-मुँह मुझसे अलग हैं कि उसके चार गोड़, चार हाथ हैं कि उसके खून का रंग दूसरा है लाल-पीला? अन्न के बदले वह सोना-चाँदी खाता है?'' टीका बोलते-बोलते तैश में आ गए थे।

''उसकी जात तेरी जात से श्रेष्ठ है।''

''ये कैसे हो सकता है? जात, जात होती है, सभी अपनी जगह पर श्रेष्ठ हैं।''

रामनाथ मिश्रा इस बकवाद में थकते हुए लगे थे। लेकिन उन्होंने इतना जरूर धमका दिया था आखिर में टीका को कि स्कूल में पढ़ना है तो कुछ सहना ही पड़ेगा। टीका ने भी उनकी धमकी स्वीकार करते हुए निश्चय कर लिया था कि कोई उसे सताने की कोशिश करेगा तो वह भी बर्दाश्त नहीं करेगा।

आगे चलकर टीका को यही लगा था कि सवर्ण समाज कभी नहीं चाहता कि दलित शिक्षित हों। लेकिन स्वयं की दृढ़ता भी जरूरी है, सवर्ण सोच के विरुद्ध। उनका विरोध होते रहना चाहिए व्यक्तिगत तौर पर भी और संगठित तौर पर भी अन्यथा उनके अन्याय में कोई कमी नहीं आनेवाली। उनके विरोध के कारण

ही मुनेसर और रामनाथ मिश्रा जैसे वर्णवादी उनसे बात करने में कतराने लगे थे। हालांकि उनके बैठने का स्थान स्कूल का बरामदा ही बना रहा और वे एकलव्य की साधना जैसे ही उन्होंने अपनी प्रारंभिक पढ़ाई की थी। ऐसा भी नहीं कि वे दूसरे लड़कों से सुस्त साबित हुए। जैसे-तैसे पढ़ लिए। उनकी निश्चयता और दृढ़ता उन्हें आगे ले जा रही थी।

× × ×

टीका गुरुजी पढ़ाई के दौरान ही अम्बेडकर साहित्य से परिचित हुए थे संक्षिप्त तौर पर ही। उम्र कम थी। वे समझ नहीं सकते थे उनकी गहराई। लेकिन उनका ये नारा ... शिक्षित बनो ... संगठित हो ..... संघर्ष करो, पत्थर की लकीर की तरह उनके भीतर बैठ गया था। जब वे 'गुरुजी' बन गए तो अम्बेडकर को जानने-समझने की जिज्ञासा उनके भीतर तीव्र हो गई थी। लेकिन उनकी भी छटपटाहट थी कि वे अपने लोगों को, बस्तीवालों को कैसे शिक्षित करें। जब तक वे शिक्षित नहीं होंगे, कभी संगठित नहीं हो पाएंगे और इस हाल में युगों से आ रही कुछ परंपराओं को, जो अमानवीय भी हैं, चुनौती नहीं दे सकते जिन्हें हम सब पर उत्पीड़न के औजार के तौर पर प्रयोग किया जाता है।

उन्होंने इसकी शुरुआत बाबा साहेब का नाम लेकर अपनी बस्ती से की थी। वे अपनी बस्ती से कुछ दूर जाते थे मास्टरी करने। घर से सुबह निकल जाते थे और सांझ को वापस आते थे। उनके पास बीच के समय की कमी थी। लेकिन वे सोचते थे, ये तो होना ही है। बुनियादी जरूरतों को पूरा करते हुए कोई सामाजिक बनना चाहेगा तो उसके साथ ऐसी समस्या आनी ही है। बुनियादी जरूरतों को पूरा करने की जद्दोजहद। फिर पारिवारिक जीवन और समाज के लिए समय निकालना, दिनभर का समय पर्याप्त नहीं हो सकता। जितने तरह के काम हैं, उन्हें सफलता पूर्वक निपटाने के लिए चौबीस घंटे के अतिरिक्त भी 'घंटे' चाहिए, जो कभी नहीं होना है। इसी चौबीस घंटे में सब कुछ निपटाना है। प्रकृति उनके अनुकूल नहीं हो पाएगी। उसकी अपनी गति होती है जो सार्वभौम होती है। रत्ती भर इधर-उधर नहीं।

स्कूल से आते टीका गुरुजी कपड़े उतारते। लुंगी पहनते। हाथ-पाँव धोते। फिर बस्ती में घूमने निकल पड़ते। जो बच्चे आवारा बने घूमते नज़र आते, उन्हें अपने पास बुलाते। उन्हें प्यार से बिठाते, ''आओ, बैठो।'' जब वे बैठ जाते तब

Continue Your Reading Journey

This preview has ended. Access the complete library and support our mission.

Join Our Inclusive Reading Community

- ✓ We champion diverse voices and perspectives
- ✓ Your support helps amplify underrepresented authors
- ✓ We provide free access to educational institutions
- ✓ Building bridges through shared stories
- ✓ Creating space for all narratives to be heard

Support Our Mission

Your donation enables us to:
• Curate diverse book collections
• Support authors from marginalized communities
• Provide free resources to educators
• Maintain our accessible digital library

Visit: www.diversitymission.in

Sign the diversity pledge • Make a donation • Download full library